RESEARCH HUB – International Multidisciplinary Research Journal (RHIMRJ)
Research Paper
Available online at: www.rhimrj.co.in

भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का स्वरूप : सामान्य अवलोकन

Dr. Laxmi Narayan

Assistant Professor (Political Science), Govt. College, Malsisar, Jhunjhunu, Rajathan

शोध सारांश– भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला भारतीय की सनातन संस्कृति न केवल भारतवासियों को एकजुट रखने में सामर्थ्यवान है, अपितु इस सार्वभौम संस्कृति में विश्व के समस्त राष्ट्रों को एकसूत्र में पिरोने का तत्व भी समाया हुआ है। भारतीय संस्कृति के चार मूलभुत सिद्धान्त वैश्विक शांति का मार्ग प्रशस्त करने में पूरी तरह सक्षम है। ये सिद्धान्त है–'वसुधैव कुटुम्बकम' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एक परिवार की तरह है, 'एकम् सदविप्राः बहुधा वदन्ति' अर्थात् भारतीय मनीषियों की यह उद्घोषणा है कि सत्य एक है, विद्वान इसे अलग–अलग तरीकों से कहते हैं, 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' अर्थात् समस्त प्राणियों का भला हो तथा 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में है, आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। भारतीय संस्कृति का यह वैचारिक आधार इतना ठोस एवं समन्वय है कि भारत समेत सम्पूर्ण विश्व को जोड़ने का सामर्थ्य रखता है।

संकेताक्षर– राष्ट्रवाद, संस्कृति, सनातन, हिन्दु, राष्ट्र।

शोध विस्तार– हाल ही यह देखा गया है कि भारतवर्ष में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पकड़ निरंतर ढीली होने से देश की अखण्डता बहुत गहरे अर्थों में प्रभावित हुई है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि जिस भी क्षेत्र में हिन्दु समाज विघटित एवं कमजोर होगा वहां अलगाववाद पनपेगा, वहीं आतंकवाद की समस्यायें शुरू होगी और वह क्षेत्र विशेष राष्ट्र से कट जायेगा। यदि हम भारम के प्राचीन मानचित्र का अवलोकन करे तो इस समय आधे से ज्यादा भारतवर्ष पर दूसरों का कब्जा है यदि केवल वर्तमान का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट होगा कि अफगानिस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश हिन्दू राष्ट्र की पकड़ कमजोर होने का ही नतीजा है। आज हमारा देश जिस सबसे बड़ी समस्या से जूझ रहा है वह कश्मीर की समस्या है। अतः भारत में व्याप्त सभी प्रकार की समस्याओं को जड़ से उन्मूलित करने का एक मात्र रास्ता यही है कि देश और जन को स्वयं राजनीति को धर्म से पृथक नहीं रखने के पक्षधर थे। उनका मानना था कि धर्म से अनियंत्रित राजनीति निरंकुश हो जाती है राजनीति पर सम्प्रदाय का अंकुश नहीं होना चाहिए।

भारत के अतीत में श्रीराम, अशोक, युधिष्ठिर, मनु आदि कुछ ही ऐसे चक्रवर्ती राजा थे, जिन्होंने पूरे भारतवर्ष पर शासन किया था। अन्यथा हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों में अलग–अलग स्वाधीन राज्य थे। राजनीतिक दृष्टि से बंटा होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूरा भारतवर्ष एक देश माना जाता था। हालांकि राजनीति को कम महत्व देने के कारण हमें दण्ड भी भोगना पड़ा। जब बाहरी शक्तियां राज्यों पर आक्रमण करती थीं, तो देश भर के सभी राज्य मिलकर उसका प्रतिरोध नहीं करते थे। फलस्वरूप भारतवर्ष के राज्य एक–एक करके धाराशायी होते गये। जब तुर्क, पठान, मुगल, मंगोल आदि ने भारतवर्ष के केन्द्रित सत्ता को छीन लिया तब भी भारत वर्ष एक राष्ट्र के रूप में विद्यमान था। क्योंकि इस देश के केन्द्र में संस्कृति आत्मा के रूप में जीवित थी और यहीं संस्कृति भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक राष्ट्र के रूप में जीवित रखी।[1]

मध्यकाल में हुए हेमाद्रि पंडित ने अपने संकल्प में देश के मान्य पर्वतों, वनों, नदियों, पुरियों, प्रदेशों आदि का उल्लेख कर पूरे भारत का बोध कराता है। आज भी श्रावणी आदि पर्वों का पालन करते समय इस विस्तृत संकल्प का पाठ किया जाता है। यहां इस बात पर भी ध्यान जाना चाहिए कि राजनीतिक पराजय के बावजूद हमारी संस्कृति ने किस प्रकार अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रेरणा दी, इस्लामी संस्कृति से कैसे सेतु बनाये, किस प्रकार उसे एक सीमा तक प्रभावित किया, कैसे उसने ग्रहणीय अंशों को स्वीकार किया। यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि ऐसा सांस्कृतिक सेतु मुख्य रूप से योगियों, भक्तों एवं सूफियों ने तैयार किया। मध्यकाल में दक्षिण भारत में इस सांस्कृतिक सरिता को प्रवाहित करने का महत्वपूर्ण कार्य गुरू रामानन्द ने किया। भक्ति सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने घोषणा की ''जाति पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सौ हरि का होई'' और इस पर अमल भी किया। गुरूनानक देव ने भी निर्गुण भक्ति पर बल दिया, हिन्दू–मुसलमान का भेद अस्वीकार कर दोनों को अपना शिष्य बनाया। उनमें भक्ति के साथ–साथ शक्ति की भी ज्योति चमकती थी।

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved *ISSN:* 2349-7637 (Online)

भारतीय मुस्लिम समाज में भारतीय संस्कृति का संचार करने की दृष्टि से हिन्दी के सूफियों, मौलानाओं दाऊद, कुतबन, मंक्षत, मलिक मुहम्मद जायसी आदि का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। इन कवियों ने इस्लाम की धार्मिक शब्दावली को सहज एवं सरल हिन्दी में रूपान्तरित किया। अल्लाह और खुदा के साथ करतार, अलख निरंजन सर्वव्यापी का भी प्रयोग उन्होंने परमेश्वर के लिए किया है। इस तरह नूरुल मुहम्मदिया को ज्योतिषी प्रकाश, विहिश्त को कैलाश, कुरान शरीफ को पुराण, रसूल को बसीठ कहने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। अपनी धार्मिक अवस्थाओं पर दृढ़ रहते हुए फारसी की मसनवी परम्परा के अनुसार ईश्वर वंदना के बाद मुहम्मद साहब प्रथम चारों खलीफों का सही वक्त और अपने गुरु की स्तुति करके ही कथा शुरु करते हैं। उनकी प्रेम कथाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति के सजीव रूप के दर्शन होते हैं। बड़े चाव से, उन्होंने अपने जन के साथ भारतीय त्योहारों, ऋतुओं और जीवन–पद्धति का चित्रण किया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी भारतीय दृष्टि का स्वीकारते हुए अपना भाव बेझिझक व्यक्त किया है। "विधना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवांजेते" अर्थात् विधाता तक पहुँचने के उतने मार्ग हैं जितने आकाश में तारे और शरीर में रोएं हैं। वे अपने देश की संस्कृति से किस प्रकार एकमएक हो गये थे इसका एक प्रमाण यही है कि उन्होंने अपने पद्मावत में रामकथा के विविध प्रसंगों का करीब सौ बार उल्लेख किया है।[2]

धार्मिक कट्टरता को लांघकर साधना और साहित्य के क्षेत्र में पठान–मुगल काल में भी भारतीय संस्कृति की उदारता को मुसलमान भाई अपना रहे थे। दाराशिकोह द्वारा उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाना भी इसी धारा की एक कड़ी है। यह देश का दुर्भाग्य है कि औरंगजेब की मजहबी कट्टरता ने इस धारा को अवरुद्ध करना चाहा पर फिर भी मंदगति से ही सही वह धारा प्रवाहित होती रही। संत प्राणनाथ जी ने समन्वय की दृष्टि से औरंगजेब को पत्र लिखा और अपने संप्रदाय में श्री कृष्ण को निराकार रूप की उपासना का प्रवर्तन किया। असम के श्री शंकर देव ने भी निराकार प्रभु की भक्ति पर ही बल दिया है। इसी तरह रीतिकालीन हिन्दी साहित्य पर फारसी साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है। संगीत और चित्रकला में भी आदान–प्रदान चलता रहा। यह उदार समन्वयी धारा निश्चित ही भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की गौरवपूर्ण उपलब्धि है।

1857 ई0 में ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ छेड़े गए प्रथम स्वाधीनता संग्राम के पूर्व जन संघर्ष की चेतना जगाने के लिए रोटी के साथ–साथ कमल को प्रतीक के रूप में चुनना, हमारी सांस्कृतिक चेतना के कारण ही संभव हो सका। दुर्भाग्य से इस स्वतंत्रता संग्राम के विफल होने के बाद जनता में व्यापक हताशा फैल गयी किन्तु देश को इस हताशा से उबरने के लिए पुनः एक बार हमारी सांस्कृतिक चेतना ही सक्रिय हुई। राजा राममोहन सिंह राय, स्वामी विवेकानन्द, श्री कृष्ण परमहंस, महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द आदि महापुरुषों ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को उभार कर और विकृतियों को नकारकर पुनः देश में नव जीवन का संचार किया। यह ऐतिहासिक तथ्य स्मरणीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता इस काल की सर्वाधिक प्रेरक पुस्तक रही। ऋषि बंकिमचन्द्र चटर्जी, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, गोलवलकर तथा अन्य मनीषियों ने गीता से प्रेरणा लेकर जन जागरण अभियान चलाया था। इस सांस्कृतिक जागरण का एक फल यह भी हुआ कि पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान और जीवन मूल्यों के अंध अनुकरण के अतिरेक्षों से मुक्त होकर भारतीय प्रबुद्ध चित्त ने भारतीय और पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान आदि के स्वक्ष्य समन्वय पर बल दिया।[3]

अतः इससे ही हमें शिक्षा लेनी चाहिए कि उपासना पद्धति एवं सामाजिक रीति–नीति की भिन्नताओं के बावजूद साझी भारतीय संस्कृतिक चेतना को हम लोग और दृढ़ करें। यह याद रखें कि स्वाधीनता संग्राम में भी और स्वाधीन भारत के विकास में भी सभी धर्मावलम्बी भारतीयों का योगदान रहा है। आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति एक रूपता की नहीं, अंतर्निहित एकता की पक्षधर रही है। अपनी ऐतिहासिक परम्परा के उज्ज्वल पक्षों श्रद्धा, मातृभूमि के प्रति निष्ठा, स्वस्थ परिवर्तनों को स्वीकारते हुए भी स्वरूप की निरंतरता का बोध, विचार स्वतंत्रता, विविध उपासना पद्धतियों, भाषाओं सामाजिक एवं क्षेत्रीय विशिष्टिताओं के प्रति सद्भाव हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रमुख पक्ष रहे हैं। मध्य युग में राजनीति की उपेक्षा करने का भरपूर दण्ड हम लोग भोग चुके हैं। अतः अब राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रति भी पूर्णतः सजग रहना होगा।

संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी संस्कृति ने दूसरे देशों की संस्कृतियों से आदान–प्रदान न किया हो। आधुनिक युग में तो यह प्रक्रिया और भी तेज हो गयी है। फिर भी दुनिया का कोई देश ऐसा नहीं है जो अपनी संस्कृति को सामाजिक संस्कृति कहता हो। अतः हम भी आकंठ चित्त से अपने देश की संस्कृति को सीधे–सीधे भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय भाव को सांस्कृतिक राष्ट्रीयवाद कहना चाहिए। यह राष्ट्रवाद अपने भीतर विराट संकल्पना को पिरोये हुए हैं। पहले ही यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद का सही मूल्यांकन सांस्कृतिक सन्दर्भ में ही हो सकता है। केवल उपासना पद्धति तक सीमित करने की भूल के कारण औपनिवेशिक मानसिकता वाले लोग आज भटक रहे हैं। वे इससे इतर भी है जिनके चिन्तन में उपनिषद्, गीता, पुराण आदि या किसी संहिताबद्ध मजहब का प्रतिपादन तो नहीं है किन्तु उसमें एक विराट मानव धर्म की संकल्पना निहित है। यहाँ परमपिता परमेश्वर की संकल्पना भी विराट रूप में की गयी है।[4]

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

ISSN: 2349-7637 (Online)

किसी देश की राष्ट्र के रूप में पहचान कैसे होती है? या दूसरे शब्दों में वे कौनसे घटक हैं जिनसे राष्ट्र का निर्माण होता है? राजनैतिक विचारक डी. स्मिथ ने राष्ट्रवाद को इस तरह परिभाषित किया है, "मानव समुदाय जिनकी अपनी मातृभूमि हो, जिनकी समान गाथाएं और इतिहास एक जैसा हो, एक जैसी समान संस्कृति हो, अर्थव्यवस्था एक हो और सभी सदस्यों के समान अधिकार हो, रुपर्ट इमर्सन ने इस तरह परिभाषित किया है, "एक सम्बद्ध समुदाय, जिसकी विरासत समान हो और एक जैसा भविष्य पसंद करते हैं"। किन्तु फ्रांसीसी लेखक अर्नेस्ट रेनन के अनुसार, "आधुनिक राष्ट्र केन्द्राभिमुख घटकों की ऐतिहासिक परिणति है"। एक जैसा अतीत गौरव, वर्तमान की एक समान लालसा तथा एक साथ महान् कार्य के निष्पादन उससे अच्छा करने की इच्छा, यह सभी घटक 'जन' बनने की आवश्यक शर्त है; और ऐसे 'जन' की आत्मा राष्ट्र है।[5]

ऐसा कहा जाता है कि 1648 की वेस्ट फेलिया की संधि ने ही आधुनिक अंतर–प्रादेशीय अवस्था की आधारशिला रखी। विचारणीय है कि राष्ट्र का अस्तित्व तब भी था जब सम्प्रभु राष्ट्र नहीं थे, (जैसा कि हम इस समय समझते हैं)। सरकार के न रहने पर भी राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वाली एक सामान्य जन संस्कृति और भाईचारे की भावना थी। ये राष्ट्रीय समुदाय सिर्फ ऐसे समुदाय नहीं थे, जिनके वंश एवं परम्परा समान थे, बल्कि उनकी संस्कृति भी समान थी, जो उनके सामाजिक नियमों और आदर्शों को भली–भाँति परिभाषित करती थी। किन्तु आधुनिक राष्ट्रवाद की झलक हमें फ्रांस की क्रांति के बाद मिलती है। जहाँ राजनैतिक इकाई के रूप में फ्रांस राष्ट्र राज्य का उदय स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे राजनीतिक सिद्धांतों पर हुआ। यहाँ राष्ट्रवाद पर सम्पूर्ण चिन्तन राष्ट्र को एक इकाई के रूप में मानने से शुरू हुआ। राष्ट्र राज्य के उदय से पहले राष्ट्रों के अस्तित्व को केवल जाति समूहों के संगठन के रूप में माना गया। इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि दुनिया के अधिकांश राष्ट्र बहु–जातीय राष्ट्र है। अतः इन्हें सामाजिक राष्ट्र के रूप में माना गया।[6]

इतिहासकार सर विसेन्ट स्मिथ लिखते हैं, "बिना किसी संदेह के भारत के पास अंतर्निहित मूलभूत एकता है जो राजनैतिक सम्प्रभुता या भौगोलिक विगलता से ज्यादा शक्तिशाली है। यह एकता जाति, धर्म, वंश, रंग, भाषा व रीति–रिवाज की तमाम भिन्नताओं को पार करती है।" यह सांस्कृतिक एकता, हमारी राष्ट्रीय पहचान है। यह हमारा चरम–जीवन मूल्य है। यह हमारे जीवनशैली को प्रतिपादित करती है और हमारी राष्ट्रीयता की आधारशिला है। अतः राष्ट्रवाद जिसका हम उद्घोष करते हैं, वास्तव में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही है। अस्तु "राष्ट्रवाद की विचारधारा राष्ट्र की संस्कृति से ओत–प्रोत होती है। इतिहास की पुनःखोज, देशी भाषाओं का पुनः जीवन, साहित्य का विकास, संगीत, लोकनृत्य एवं लोकगीत के साथ–साथ देशज कला तथा शिल्प की पुनः स्थापना। इसके आधारभूत तत्व हैं।

भारत पूरे विश्व में अकेला भू–सांस्कृतिक राष्ट्र है। दुनिया के जिन देशों की एकता राजनैतिक कारणों से थी, वे टूट कर अलग–अलग हो गए। अतः यह कहने में किंचित् भी संकोच नहीं है कि इस राष्ट्रीय भावना का उदय भारत की पवित्र भूमि पर हजारों वर्ष पहले हुआ। यही कारण था जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम को चौदह वर्ष का वनवास मिला तो उन्होंने अयोध्या के आस–पास के अरण्यों में रहने की अपेक्षा उत्तर से सुदूर दक्षिण तक की यात्रा करके भारत की एकता और अखण्डता का संदेश दिया। इसी तरह योगी राज कृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ। उन्होंने अपना राज्य गुजरात के द्वारिका में स्थापित किया और महाभारत के युद्ध में कुरुक्षेत्र की भूमि पर गीता का उपदेश दिया। भगवान कृष्ण की रथ यात्रा पूर्व में जगन्नाथ पुरी में होती है और दक्षिण में भगवान तिरुमाला की पहाड़ियों पर भगवान वेंकटश के रूप में उन्हें पूजा जाता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और कृष्ण की छवि यहां प्रत्येक भारतीय के हृदय में है। ये हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं। इसी कारण भगवान् शिव की अर्चना सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम् से लेकर उत्तर भारत में काशी ही नहीं कश्मीर तक होती है। उत्तर में कैलाश तो उनका निवास स्थान ही है। सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना की पहचान बने, केरल जन्में जगतगुरु शंकराचार्य ने भारत के चार कोनों पर चार धामों की स्थापना कर भारतीय राष्ट्रीय चेतना को चतुर्दिक आकार देने का प्रयास किया। कहने का तात्पर्य यह है कि मात्र भगवान् श्री कृष्ण का स्मरण करने से हम अपने आप में पूरे भारतवर्ष से जुड़ जाते हैं। इसी तरह श्री राम का जीवन चरित्र मुख्य रूप से उनका चौदह वर्षों का वनवास क्षेत्र हमारी सांस्कृतिक एकता का परिचायक है।[7]

भारतीय संस्कृति और परंपरा जिन मूल्यों और आदर्शों की वकालत करती है, वे दुनिया के ऊँचे मानदण्ड हैं। पश्चिमी विचार एवं पश्चिमी जीवन मूल्य से भारत की भलाई कभी नहीं हो सकती। किसी भी देश के विकास के पीछे जरूरी है, वहां की अपनी धरती से निकले विचारों पर खड़ा हुआ एक मजबूत ढ़ांचे का अस्तित्व। दुनिया के शेष देशों की स्थिति पर विचार करने के बजाय यदि भारत पर विचार किया जाए तो हम पायेंगे कि 'धर्म गुरु' कहलाने वाले भारत की आत्मा का मूल तत्व धर्म है, राष्ट्र है, जिसका एक भावात्मक स्वरूप है रूप नहीं। रूप बाहर–बाहर होता है स्वरूप आंतरिक चेतना है। बाहरी तौर पर यह देश भूमि, जनता और राजव्यवस्था का समुच्चय है, किन्तु आंतरिक स्वरूप में यह दिव्य चेतना है। चेतना का यह आत्मसाक्षात्कार युगों–युगों

से सामूहिक चिन्तन का प्रतिफल है। इसे ही भारत में हम अपनी संस्कृति कहते हैं। धर्म यहां बंधनकारी नहीं है। यहाँ सारे पंथ अनुशासन देते हैं। भारत का धर्म आत्मानुशासन देता है। यह बंधन में नहीं डालता बल्कि मुक्त करता है।[8]

एक राष्ट्र के ह्रदय में संस्कृति की अमर आत्मा का निवास है। देश की सीमा घटती–बढ़ती है, परन्तु सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का कभी भी अपक्षय नहीं होता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, विराट से विराट है, प्रत्येक के जीवन में श्रद्धा औ निष्ठा के रूप में सदा–सदा के लिए उपस्थित है एवं देश और काल की सीमाओं से परे हैं। किसी राष्ट्र की पहचान तभी होती है, जब इतिहास में कोई अच्छी या बुरी घटना हो। हल्दीघाटी की लड़ाई हो या प्लासी का युद्ध; राष्ट्र को क्या पीड़ा थी और उस पीड़ा को किसने झेला यह कहने की आवश्यकता नहीं है। हल्दीघाटी में जाने से हम क्या अनुभव करते हैं। इसे तो वही राष्ट्रभक्त कह सकता है जो इस ऐतिहासिक आघात की पीड़ा को स्वंय पी गया हो। ठीक उसके विपरीत मानसिंह का भी राजमहल है जिसकी अपवित्र और अभिशप्त दीवारों की सिसकियों से सारा वातावरण दूषित है। आप स्वयं समझ सकते हैं कि कौन कार्य राष्ट्रीय है और कौन अराष्ट्रीय है।[9]

भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च आदर्शों में एक है– "एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" अर्थात् सत्य एक है, विद्वान उसे भिन्न–भिन्न तरह से कहते हैं। इसीलिए भारतीय विचारों में खुलापन पाया जाता है। विचारों में यह दुराग्रह कभी नहीं रहा कि एक मात्र हमीं सही है। इस देश में वर्षों से माना जाता है, "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" अर्थात् जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जो आत्मा में है वही परमात्मा में है। भारत की संस्कृति उदात्त संस्कृति है। यह भारतीय संस्कृति ही है जो आगे बढ़कर कहती है "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है। इसलिए भारत में कभी भी दूसरे देशों को वीजित करने का प्रयास नहीं किया गया क्योंकि हमारा संदेश विश्व बंधुत्व का संदेश रहा है। ऐसे उदात्त और ऊँचे आदर्शों से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति पर गर्व करने की आवश्यकता है। सांस्कृतिक मूल्यों की भूमिका आज के समय में और अधिक महत्वपूर्ण हो चली है।[10]

भारतीय संस्कृति मनुष्य को परमात्मा की सर्वोच्चतम कृति मानती है। हमारी संस्कृति में प्रत्येक प्राणियों के प्रति समन्वय की भावना विद्यमान है। हमारी संस्कृति में पशु और प्रकृति का भी ऊँचा स्थान है। यह भारतवर्ष ही है, जहाँ राजकुमार सिद्धार्थ अपने भाई द्वारा घायल किये गये पक्षी को देने से इनकार कर देते हैं। "यदि हम दूसरों को जीवन नहीं दे सकते तो हमें जीवन लेने का अधिकार भी नहीं है।" पशु–पक्षियों के प्रति उदारता के ऐसे अद्भुत उदाहरण भला और किस संस्कृति में मिलेंगे। यहाँ सर्वप्रथम 'अतिथि देवो भव' कहकर अतिथि को ईश्वर का सम्मान दिया गया और नारी को देवी मानकर उसकी पूजा की गयी। राज्य और राष्ट्र को एक मानने और समझने वाले 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श नहीं समझ सकते, क्योंकि इस पवित्र भाव को वही व्यक्ति समझ सकता है, जो राज्य की शक्ति से ऊपर उठकर राष्ट्र के सद्भाव और विस्तार को समझ सके। 'राज्य राजनीति को समझने का टूल है। राज्य एक संकुचित अवधारणा है राज्य राजनीति के इर्द–गिर्द सिमटकर रह जाता है, 'जबकि राष्ट्र राज्य के संकुचित विचारधारा को तोड़कर एक पद्धति को विकसित करता है'।[11]

निष्कर्षः– भारत देश मूलतः संस्कृति प्रधान देश है। इस संस्कृति का जादू है कि विश्व के नक्शे से यूनान, रोम और मिस्र मिट गये पर भारत का अस्तित्व बना रहा। हर समय में यहाँ की संस्कृति बार–बार अपने मूल स्वरूप की ओर दौड़ती रही। भारतीयता का अर्थ है प्राचीनता से नवीनता का समता मूलक अनुभव। किन्तु वर्तमान परिदृश्य में लगता है कि भारतीय संस्कृति की यह परिकल्पना धीरे–धीरे प्रायः होती जा रही है। सच बात तो यह कि स्वतंत्रता से पूर्व इतनी विकृतियां नहीं थी जितनी की आज है। हमारी मातृ भाषा का, हमारे साहित्य का, हमारी राष्ट्रीयता का जो सम्मान था, जो अस्मिता की अनुभूति थी, उसे हम भूलते जा रहे हैं। यह एक बड़ी विडम्बना की स्थिति है। हमारी आने वाली पीढ़ी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को नकारती जा रही है। इसका कारण हमारी नीतियों की कमियाँ हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसमें सभी के लिए समान आदर का भाव और साथ ही साथ सहअस्तित्व की भावना है। इस सह–अस्तित्वप्रधान चेतना के उसे अत्यंत उदार, विनम्र और लालची बनाया है। विदेशी आक्रान्ताओं ने इस अतिसहिष्णु संस्कृति की उदारता का लाभ उठाकर उसके मूल पर ही प्रहार किया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की इस अति–सहिष्णुता को उसकी कायरता समझा गया तथा उसके जो भी मूल तत्व थे उन्हें छिन्न–भिन्न करने का हर संभव प्रयास किया गया। अभी भी इस हेतु तरह–तरह के चक्रव्यूह रचे जा रहे हैं।

संदर्भ सूची–

1. नितिन सिंघानियाः भारतीय कला एवं संस्कृति, मैग्राहिल, पब्लिकेशन देहली, 2017, पृ. 13
2. वहीं पृ. 15–17
3. मीनाक्षी कांतः भारतीय कला एवं संस्कृति एवं विरासत, एस.एस. पब्लिकेशन, दिल्ली, 2015 पृ. 73

4. वहीं पृ. 79
5. लईक अहमद : भारतीय संस्कृति एक सर्वेक्षण, प्रयाग पुस्तक भवन, 2017, पृ.93
6. जनसत्ता, 8 दिसम्बर, 2013
7. कल्याण, पृ. 31
8. रहीस सिंह : भारतीय कला एवं संस्कृति, मैग्राहिल पब्लिकेशन, 2015, पृ. 9
9. वहीं, पृ. 11–13
10. वी.एन.लूनियाः प्राचीन भारतीय संस्कृति एल.एन.ए. पब्लिकेशन, 2019, पृ. 132
11. एस. आबिद हुसैन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय प्रकाशन, मेरठ, 2016, पृ. 93

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

ISSN: 2349-7637 (Online)